क्या परदा देश की तरक़्क़ी में रुकावट है?

सैयदा परवीन रिज़वी

अनुवाद

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

بسم الله الرحمن الرحيم

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

(अल्लाह के नाम से जो बड़ा मेहरबान, निहोयत रहमवाला है)

दो शब्द

पश्चिमी तहज़ीब ने ख़ुदा, आख़िरत, धर्म और अख़लाक़ का इनकार करके पूरी दुनिया को मनमानी और आज़ादाना ज़िन्दगी गुज़ारने की दावत दी है। उसकी इस दावत (आह्वान) से न सिर्फ़ यह कि नास्तिक यानी ख़ुदा और धर्म को न माननेवाले लोग मुतास्सिर हुए हैं, बल्कि हैरत व अफ़सोस की बात यह है कि धर्म को माननेवाले लोग भी पश्चिमी तहज़ीब में डूबते जा रहे हैं। इस सिलसिले में सबसे ज़्यादा अफ़सोसनाक बात यह है कि इस्लाम धर्म के माननेवाले भी न सिर्फ़ यह कि पश्चिमी तहज़ीब के गुन गाने लगे हैं, बल्कि अमली तौर पर भी उसी में रंगते जा रहे हैं। इससे और आगे बढ़कर एक सितम वे यह कर रहे हैं कि अपनी रविश और अपने तरीक़े को जायज़ ठहराने के लिए इस्लाम की तालीमात और हिदायतों का मनमाना मतलब निकालकर पश्चिमी बे-दीनी तहज़ीब को सही और इस्लाम के मुताबिक़ होने की सनद दे रहे हैं। इस काम में वे मुसलमान बहुत आगे हैं जो मुस्लिम देशों में रहते हैं।

परदा भी उन चीज़ों में से है जिसका नाम व निशान मिटा देनी की क़सम पश्चिम ने खा रखी है। उसका दावा है कि

'परदा', ख़ास तौर से इस्लामी परदा, देश की तरक़्क़ी में बहुत बड़ी रुकावट है। मुसलमान औरतें बड़ी तेज़ रफ़्तारी के साथ उनके इस मिशन को अमली-जामा पहना रही हैं।

यह छोटी-सी किताब 'क्या परदा देश की तरक़्क़ी में रुकावट है?' असल में एक तक़रीर है जो मोहतरमा सैयदा परवीन रिज़वी साहिबा ने नश्तर मेडिकल कॉलेज मुल्तान में ऑल पाकिस्तान इन्टर कालेजेट डिबेट में उर्दू ज़बान में की थी। इजतिमा में बड़ी तादाद उन लोगों की थी जो यह समझते थे कि परदा तरक़्क़ी की राह में बड़ी रुकावट है।

सैयदा परवीन साहिबा ने अपनी इस तक़रीर में बड़े अच्छे तरीक़े से बताया है कि हक़ीक़त में इस्लामी परदा देश की तरक़्क़ी में कभी रुकावट नहीं रहा और न आज हो सकता है। उनकी यह तक़रीर इतनी पसंद की गई कि उनको इस डिबेट में पहला इनाम दिया गया।

इस तक़रीर को सुनने के बाद इजतिमा में मौजूद लोगों ने हाथ उठाकर इस बात की ताईद की कि परदा हक़ीक़त में तरक़्क़ी की राह में रुकावट नहीं बन सकता।

इस तक़रीर का हिन्दी तर्जुमा आपकी ख़िदमत में पेश किया जा रहा है। ज़रूरत इस बात की है कि ज़्यादा से ज़्यादा मर्दों व औरतों, बच्चों और बच्चियों तक इसे पहुँचाया जाए और उन्हें तबाह होने से बचाने की कोशिश की जाए। ख़ुदा इसका हमें बेहतरीन बदला देगा।

— नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

क्या परदा देश की तरक़्क़ी में रुकावट है?

परदा देश की तरक़्क़ी में रुकावट है या नहीं? इस सवाल का फ़ैसला करने के लिए हमें सबसे पहले यह देखना चाहिए कि परदा है क्या चीज़? क्योंकि इसके बिना हम इसके मक़सद, इसके फ़ायदे और इसके नुक़सानों को नहीं समझ सकते। इसके बाद हमें यह तय करना चाहिए कि वह तरक़्क़ी क्या है जिसे हम हासिल करना चाहते हैं? क्योंकि इसे तय किए बग़ैर हम यह मालूम नहीं कर सकते कि परदा इसमें रुकावट है या नहीं।

परदा अरबी ज़बान के शब्द 'हिजाब' का शाब्दिक अनुवाद है। जिस चीज़ को अरबी में हिजाब कहते हैं, उसी को फ़ारसी और उर्दू-हिन्दी में परदा कहते हैं। 'हिजाब' का शब्द क़ुरआन मजीद की उस आयत में आया है जिसमें अल्लाह ने लोगों को नबी (सल्ल.) के घर में बेझिझक आने-जाने से मना किया था और हुक्म दिया था कि अगर घर की औरतों से कोई चीज़ माँगनी हो तो हिजाब (परदे) की ओट से माँगा करो। इसी हुक्म से परदे से मुताल्लिक़ आदेशों की शुरुआत हुई। फिर जितने आदेश और नियम इस बारे में आए उन सबको परदे से मुताल्लिक़ हुक्म और नियम कहा जाने लगा।

परदे से मुताल्लिक़ आदेश क़ुरआन मजीद की चौबीसवीं और तैंतीसवीं सूरा में विस्तार के साथ मौजूद हैं। उनमें औरतों

को हुक्म दिया गया है कि वे अपने घरों में वक़ार और इज़्ज़त के साथ रहें। अपने हुस्न और अपने सिंगार की नुमाइश न करती फिरें, जिस प्रकार जाहिलियत के ज़माने की औरतें करती थीं। घरों से बाहर निकलना हो तो अपने ऊपर एक चादर डालकर निकलें और ऐसे गहने पहनकर न निकलें जिनसे आवाज़ पैदा होती हो। घरों के अन्दर भी महरम मर्दों (यानी जिन मर्दों से शादी नहीं हो सकती) और ना महरम मर्दों (यानी जिन मर्दों से शादी हो सकती है) के बीच फ़र्क़ करें। महरम मर्दों और घर के सेवकों और मेल-जोल की औरतों के सिवा किसी के सामने ज़ीनत के साथ न आएँ। (ज़ीनत के मानी वही हैं जो हमारी ज़बान में साज-सज्जा और बनाव-सिंगार के हैं। इसमें ख़ुशनुमा लिबास, ज़ेवर और मेकअप तीनों चीज़ें शामिल हैं।) इसी के साथ औरतों को हुक्म दिया गया है कि महरम मर्दों के सामने आएँ तो अपने गरेबानों पर अपनी ओढ़नियों के आँचल डालकर रखें और अपना सतर छिपाएँ। घर के मर्दों को हिदायत की गई है कि माँ-बहनों के पास भी आएँ तो इजाज़त लेकर आएँ, ताकि अचानक उनकी निगाह ऐसी हालत में न पड़े जबकि वे जिस्म का कोई हिस्सा खोले हुए हों।

ये हुक्म हैं जो क़ुरआन मजीद में दिए गए हैं और इन्हीं का नाम 'परदा' है। अल्लाह के नबी (सल्ल.) ने इन आदेशों की व्याख्या करते हुए बताया कि औरत का सतर चेहरे, कलाई के जोड़ तक हाथ और टख़ने तक पाँव के सिवा उसका पूरा जिस्म है, जिसे बाप और भाई तक से छिपाकर रखना चाहिए। औरत

को ऐसे बारीक और चुस्त कपड़े नहीं पहनने चाहिएँ जिनके अन्दर से जिस्म नुमायाँ हो। नबी (सल्ल.) ने महरम मर्दों के सिवा किसी और मर्द के साथ अकेले रहने से भी औरतों को मना किया। आप (सल्ल.) ने औरतों को इस बात से भी मना किया कि वे घर से बाहर ख़ुशबू लगाकर निकलें। मसजिद के अन्दर जमाअत के साथ नमाज़ में आप (सल्ल.) ने औरतों और मर्दों के लिए अलग-अलग जगह मुक़र्रर कर दी थी और इस बात की इजाज़त न थी कि औरत-मर्द सब मिलकर एक सफ़ (क़तार) में नमाज़ पढ़ें। नमाज़ पढ़ चुकने के बाद नबी (सल्ल.) और दूसरे सब मर्द उस वक़्त तक बैठे रहते थे जब तक औरतें न चली जातीं।

ये हुक्म और नियम जिसका जी चाहे क़ुरआन मजीद की सूरा-24, अन-नूर और सूरा-33 अल-अहज़ाब में और सहीह हदीसों की किताबों में देख सकता है। आज जिस चीज़ को हम परदा कहते हैं उसमें चाहे अमली तौर पर कमी-बेशी हो गई हो, लेकिन उसूल और क़ायदे सब वही हैं जो अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने मदीना की मुस्लिम सोसाइटी में जारी किए थे। हालाँकि मैं ख़ुदा और रसूल (सल्ल.) का नाम लेकर किसी का मुँह बन्द करना नहीं चाहती, मगर यह कहे बग़ैर भी नहीं रह सकती कि आज हमारे अन्दर यह आवाज़ उठना कि "परदा हमारी तरक़्क़ी में रुकावट है" हमारी दोरुख़ी ज़ेहनियत की खुली निशानी है। यह आवाज़ ख़ुदा और रसूल (सल्ल.) के ख़िलाफ़ अविश्वास का वोट है और इसके साफ़ मानी ये हैं कि ख़ुदा और

रसूल (सल्ल.) ने हमारी तरक़्क़ी के रास्ते में रोड़े अटका दिए हैं। अगर हम सच में ऐसा समझते हैं तो आख़िर हम क्यों ख़ामख़ाह मुसलमान बने हुए हैं और क्यों उस ख़ुदा और रसूल को मानने से इंकार नहीं कर देते जिन्होंने हमपर ऐसा 'ज़ुल्म' किया है? इस सवाल से यह कहकर छुटकारा हासिल नहीं किया जा सकता कि ख़ुदा और रसूल (सल्ल.) ने परदे का हुक्म ही नहीं दिया है। मैं अभी बता चुकी हूँ कि परदा किस चीज़ का नाम है और उसके आदेश और विस्तृत नियम जिसका जी चाहे क़ुरआन मजीद और सहीह हदीस की किताबों में निकालकर देख सकता है। हदीस के सही होने से अगर किसी को इनकार भी हो तो क़ुरआन के खुले-खुले हुक्मों को आख़िर वह कहाँ छिपाएगा?

परदे से मुताल्लिक़ जो हुक्म और नियम इस्लाम ने हमको दिए हैं, उनपर थोड़ा-सा भी ग़ौर कीजिए तो समझ में आ सकता है कि इनके तीन बड़े मक़सद हैं —

1. औरतों और मर्दों के अख़्लाक़ की हिफ़ाज़त की जाए और उन ख़राबियों का दरवाज़ा बन्द किया जाए जो औरतों और मर्दों की मिली-जुली सोसाइटियों में दोनों के आज़ादाना मेल-जोल से पैदा होती हैं।

2. औरतों और मर्दों का कार्य-क्षेत्र अलग किया जाए, ताकि फ़ितरत (प्रकृति) ने जो ज़िम्मेदारियाँ औरत के सुपुर्द की हैं उन्हें वह इत्मीनान के साथ पूरा कर सके और जो काम मर्द के सुपुर्द हैं वह उन्हें इत्मीनान के साथ पूरा कर सके।

3. घर और ख़ानदान की व्यवस्था को मज़बूत और महफ़ूज़ किया जाए, जिसकी अहमियत ज़िन्दगी की दूसरी व्यवस्थाओं से कम नहीं, बल्कि कुछ बढ़कर ही है। परदे के बग़ैर जिन लोगों ने घर और ख़ानदान की व्यवस्था को महफ़ूज़ किया है, उन्होंने औरत को ग़ुलाम बनाकर तमाम अधिकारों से महरूम करके रख दिया और जिन्होंने औरत को उसके हक़ देने के साथ परदे की पाबन्दियाँ भी नहीं रखी हैं, उनके यहाँ घर और ख़ानदान की व्यवस्था बिखर गई है और दिन-प्रतिदिन बिखरती चली जा रही है। इस्लाम औरत को पूरे अधिकार भी देता है और उसके साथ घर की और ख़ानदान की व्यवस्था को भी महफ़ूज़ (सुरक्षित) रखना चाहता है। यह मक़सद उस वक़्त तक हासिल नहीं हो सकता जब तक कि परदे से मुताल्लिक़ हुक्म और नियम उसकी हिफ़ाज़त के लिए मौजूद न हों।

बहनो और भाइयो! मैं आपसे दरख़ास्त करती हूँ कि ठंडे दिल से परदे के इन मक़सदों पर ग़ौर करें। अख़्लाक़ का मामला किसी की निगाह में अहमियत न रखता हो तो इसका मेरे पास कोई इलाज नहीं, मगर जिसकी निगाह में इसकी कोई अहमियत हो, उसे सोचना चाहिए कि मर्दों और औरतों की मिली-जुली सोसाइटी में जहाँ बन-सँवरकर औरतें आज़ादाना फिरें और ज़िन्दगी के हर विभाग और क्षेत्र में मर्दों के साथ काम करें, वहाँ अख़्लाक़ बिगड़ने से कैसे बच सकते हैं और कब तक बचे रह सकते हैं? हमारे अपने देश में यह हालत जितनी बढ़ती जा रही

है, यौन-अपराध उतने ही बढ़ते जा रहे हैं, और उनकी ख़बरें आप रोज़ ही अख़बारों में पढ़ रहे (और टेलीवीज़नों पर देख रहे) हैं। यह कहना कि इन ख़राबियों की अस्ल वजह परदा है, जब परदा न रहेगा तो लोगों का दिल औरतों से भर जाएगा, बिलकुल ग़लत है। जहाँ पूरी बेपरदगी थी वहाँ लोगों के दिल न भरे और उनकी ख़ाहिशों के तक़ाज़ों और माँगों ने नग्नता तक नौबत पहुँचाई। फिर नग्नता से दिल न भरे और खुली-खुली जिंसी आवारगी तक नौबत पहुँचाई, और अब उसके खुले लाइसंस से भी दिल नहीं भर रहे हैं। आज भी बहुत बड़ी तादाद में यौन-अपराध हो रहे हैं जिनकी रिपोर्ट अमेरिका, लन्दन और दूसरे देशों के अख़बारों में रोज़ आती रहती हैं। क्या यह हालत इत्मीनान के लायक़ है ? यह सिर्फ़ अख़्लाक़ ही का नहीं, बल्कि हमारी पूरी संस्कृति का सवाल है। औरतों और मर्दों की मिली-जुली सोसाइटी जितनी बढ़ रही है, औरतों के लिबास और बनाव-सिंगार के ख़र्चे भी बढ़ रहे हैं। इसके लिए जाइज़ आमदनियाँ नाकाफ़ी हो रही हैं। नतीजा यह है कि हर तरफ़ रिश्वत, बेईमानी और दूसरी नाजायज़ और हराम आमदनियाँ बढ़ती जा रही हैं। नाजाइज़ आमदनियों और हरामख़ोरियों ने हमारे देश की पूरी व्यवस्था को घुन लगा दिया है और कोई क़ानून ठीक तरह से लागू होने ही नहीं पाता। फिर यह भी सोचने की बात है कि जिन लोगों को अपनी ख़ाहिशों के मामले में डिसिपिलिन (अनुशासन) की आदत न हो, क्या वे दूसरे किसी मामले में डिसिपिलिन (अनुशासन) के पाबन्द हो सकते हैं? जो शख़्स

अपने घर की ज़िन्दगी में वफ़ादार न हो, उससे अपनी क़ौम और देश के मामले में वफ़ादारी की उम्मीद कहाँ तक की जा सकती है?

औरत और मर्द का कार्य-क्षेत्र अलग करना ख़ुद फ़ितरत (प्रकृति) का तक़ाज़ा और उसकी माँग है। फ़ितरत ने माँ बनने की ख़िदमत औरत के सुपुर्द करके आप ही बता दिया है कि उसके काम की अस्ल जगह कहाँ है। और बाप बनने की ज़िम्मेदारी मर्द के सिर डालकर ख़ुद इशारा कर दिया है कि उसे किन कामों के लिए माँ बनने के भारी बोझ से दूर रखा गया है। दोनों तरह के कामों के लिए औरत और मर्द को अलग-अलग जिस्म दिए गए हैं, अलग-अलग कुव्वतें और सलाहियतें दी गई हैं, अलग-अलग ख़ूबियाँ दी गई हैं और अलग-अलग नफ़सियात दी गई हैं।

फ़ितरत ने जिसे माँ बनने के लिए पैदा किया है, उसे सब्र और बरदाश्त दी है। उसके मिज़ाज में नरमी रखी है। उसे वह चीज़ दी है जिसे ममता कहते हैं। वह ऐसी न होती तो हम और आप पलकर बख़ैरियत जवान न हो सकते थे। यह काम जिसके ज़िम्मे डाला गया है उसके लिए वे काम मुनासिब नहीं हैं जिनके लिए सख़्ती और सख़्त-मिज़ाजी की ज़रूरत है। वह काम उसके लिए मुनासिब है जिसे माँ बनने के लिए पैदा नहीं किया गया है और जिसे उन भारी ज़िम्मेदारियों से आज़ाद रखा गया है जो माँ बनने के लिए लाज़िम हैं। आप इस तक़सीम को मिटाना चाहते हैं तो फिर फ़ैसला कर लीजिए कि अब दुनिया को माँओं की

ज़रूरत नहीं है। थोड़ी ही मुद्दत गुज़रेगी कि इनसान एटम बम और हाइड्रोजन बम के बग़ैर ही ख़त्म हो जाएगा। लेकिन अगर यह फ़ैसला भी आप नहीं करते और इस तक़सीम को भी आप मिटाना चाहते हैं तो यह औरत के साथ बड़ी बेइनसाफ़ी है कि वह उस पूरे बोझ को भी उठाए जो फ़ितरत ने माँ बनने के सिलसिले में उसपर डाला है जिसमें मर्द एक रत्ती भर भी कोई हिस्सा नहीं ले सकता और फिर वह मर्दों के साथ आकर सियासत, कारोबार, कारख़ानेदारी और लड़ाई के कामों में भी हिस्सा ले। ठंडे दिल से सोचिए कि इनसानियत की ख़िदमत में आधा हिस्सा तो वह है जिसे पूरे का पूरा औरत सँभालती है, कोई मर्द ज़र्रा बराबर भी उसका बोझ नहीं बटा सकता। बाक़ी आधे में से आप कहते हैं कि आधा भार उसका भी औरत उठाए। यानी तीन चौथाई औरत के ज़िम्मे पड़ा और मर्द के ज़िम्मे एक चौथाई। क्या यही इनसाफ़ है ?

औरत इस ज़ुल्म को ख़ुशी-ख़ुशी बरदाश्त करने, बल्कि लड़-झगड़कर अपने ऊपर लेने के लिए इस वजह से मजबूर हुई कि आपने, औरत होते हुए और औरत की जगह काम करते हुए, उसे इज़्ज़त देने से इनकार कर दिया। आपने बच्चोंवाली का मज़ाक़ उड़ाया। घर-गृहस्थन को बेइज़्ज़त क़रार दिया। आपने उन सारी ख़िदमतों को घटिया दर्जा दिया जो वह ख़ानदान में अंजाम देती थी और जिनकी अंजामदेही आपकी सियासत, कारोबार और जंग से कुछ कम ज़रूरी और फ़ायदेमंद न थी। मजबूर होकर वह बेचारी इज़्ज़त और ऊँचे दर्जे की तलाश में उन

कामों के लिए आमादा हो गई जो मर्द के करने के थे। क्योंकि मर्द बने बग़ैर और मर्दाना काम किए बग़ैर आप उसे इज़्जत देने को तैयार न थे। इस्लाम ने उसपर यह मेहरबानी की थी कि औरत रहते हुए और ज़नाना काम करते हुए उसे पूरी इज़्ज़त दी, मर्द के बराबर दी, बल्कि माँ होने की हैसियत से मर्द से कुछ बढ़कर ही दी। अब आप कहते हैं कि यह चीज़ 'तरक़्क़ी' में रुकावट है। आपको ज़िद है कि औरत माँ भी बने और मैजिस्ट्रेट भी और फिर नाच-गाकर मर्दों का दिल बहलाने के लिए भी वक़्त निकाले। आप उसपर इतना बोझ डालते हैं कि वह किसी काम को भी पूरे तौर पर और अच्छाई के साथ पूरा नहीं कर सकती। आप उसे वे काम देते हैं जिनके लिए वह पैदा नहीं की गई। आप उसे उस मैदान में खींच लाते हैं, जहाँ वह मर्द का मुक़ाबला नहीं कर सकती, जहाँ मर्द उससे आगे रहेगा, जहाँ औरत को अगर वाहवाही मिलेगी तो औरत होने की वजह से मिलेगी या फिर कमाल की वजह से नहीं, बल्कि जमाल की वजह से मिलेगी। यह आपके नज़दीक 'तरक़्क़ी' के लिए ज़रूरी है।

घर और ख़ानदान जिनकी अहमियत को आप 'तरक़्क़ी' के जोश में भूल गए, अस्ल में ये वे कारख़ाने हैं जहाँ इनसान तैयार होते हैं। ये कारख़ाने जूते और पिस्तौल बनाने के मुक़ाबले कुछ कम ज़रूरी तो नहीं हैं। इन कारख़ानों के लिए जिन सिफ़ात (गुणों), मिज़ाज और क़ाबिलियतों की ज़रूरत है वे फ़ितरत (छरीीश) ने सबसे बढ़कर औरत को दी हैं। इनको चलाने के लिए जिन कामों, मेहनतों और कोशिशों की ज़रूरत है, उनका

ज़्यादा से ज़्यादा बोझ फ़ितरत ने औरत ही पर डाला है और इन कारख़ानों में करने के काम बहुत हैं। कोई ज़िम्मेदारी के एहसास के साथ इन कामों को करना चाहे, जैसा कि उनका हक़ है तो उसे सिर खुजाने की मोहलत न मिले और फिर उनको जितनी ज़्यादा क़ाबिलियत, सलीक़े और सूझ-बूझ और समझदारी के साथ चलाया जाए, उतने ही ज़्यादा ऊँचे दर्जे के इनसान तैयार हो सकते हैं। इसके लिए औरत को ज़्यादा से ज़्यादा अच्छी तालीम व तरबियत देने की ज़रूरत है। इन कारख़ानों को सुकून, इत्मीनान और भरोसे के साथ चलाने के लिए इस्लाम ने परदे का डिसिपिलिन क़ायम किया था ताकि औरत यहाँ पूरी यकसूई और इत्मीनान के साथ अपना काम कर सके और उसका ध्यान ग़लत दिशाओं में न बटे। और मर्द भी पूरी तरह इत्मीनान के साथ ज़िन्दगी के इस विभाग को उसके हाथों में छोड़ दे। अब आप 'तरक़्क़ी' की ख़ातिर इस डिसिपिलिन को ख़त्म कर देना चाहते हैं। इसके ख़त्म हो जाने के बाद दो कामों में से एक काम आपको हर हाल में करना होगा। या तो ग़ैर-मुस्लिम संस्कृति और पुरानी ईसाई और यहूदी संस्कृति की पैरवी करके औरत को ग़ुलाम बना दीजिए, ताकि ख़ानदानी व्यवस्था बिखरने न पाए। या फिर इसके लिए तैयार हो जाइए कि इनसान बनाने के कारख़ाने तबाह व बरबाद होकर जूते और पिस्तौल बनाने के कारख़ाने आबाद हों।

मैं आपसे साफ़ कहती हूँ कि इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि इस्लाम जो मुक्कम्मल क़ानूनी और मआशी (आर्थिक) हक़ औरत को देता है बाक़ी रखते हुए आप इस्लाम

के क़ायम किए हुए डिसिपिलिन (अनुशासन) को तोड़ दें और आपकी ख़ानदानी व्यवस्था बरबाद होने से बची रह जाए। इसलिए 'तरक़्क़ी' का जो मेयार भी आपके सामने हो उसे निगाह में रखकर सोच लीजिए कि आप क्या खोना चाहते हैं और क्या पाना चाहते हैं।

'तरक़्क़ी' बहुत वसीअ (व्यापक) शब्द है। इसका कोई एक ही निश्चित मतलब नहीं है। मुसलमान एक ज़माने में बंगाल की ख़ाड़ी से लेकर एटलांटिक तक शासक रहे हैं। साइंस और फ़लसफ़े (दर्शन) में वे दुनिया के उस्ताद थे। संस्कृति और सभ्यता में कोई दूसरी क़ौम उनके बराबर न थी। मालूम नहीं इस चीज़ का नाम किसी शब्दकोष में 'तरक़्क़ी' है या नहीं। अगर यह तरक़्क़ी थी तो मैं कहूँगी कि यह तरक़्क़ी उस समाज ने की थी जिसमें परदे का रिवाज था। इस्लामी इतिहास बड़े-बड़े वलियों, शासकों, आलिमों, राजनीतिज्ञों, लेखकों और विजेताओं के नामों से भरा पड़ा है। ये महान लोग जाहिल माँओं की गोदों में पलकर तो नहीं निकले थे। ख़ुद औरतों में बड़ी-बड़ी आलिम और फ़ाज़िल औरतों के नाम हमें इस्लामी इतिहास में मिलते हैं। वे इल्म व फ़न और साहित्य में महारत रखती थीं। परदे ने इस तरक़्क़ी से मुसलमानों को नहीं रोका था। आज भी इसी अन्दाज़ की तरक़्क़ी हम करना चाहें तो परदा हमें इससे नहीं रोकता। अलबत्ता अगर किसी के नज़दीक 'तरक़्क़ी' बस वही हो जो पश्चिमवालों ने की है, तो बेशक इसमें परदा बुरी तरह रुकावट है। परदे के साथ वह तरक़्क़ी यक़ीनन हमें हासिल नहीं हो

सकती। मगर यह बात न भूल जाइए कि पश्चिम ने यह तरक़्क़ी अख़्लाक़ और ख़ानदानी व्यवस्था को ख़तरे में डालकर की है। वह औरत को उसके कार्य-क्षेत्र से निकालकर मर्द के कार्य-क्षेत्र में ले आया है। इसी तरह उसने अपने दफ़्तर और कारख़ाने चलाने के लिए दो गुने हाथ तो हासिल कर लिए और ज़ाहिर में बड़ी तरक़्क़ी कर ली, मगर घर और ख़ानदान का सुकून खो दिया। आज भी वहाँ अगर घर आबाद हैं तो सिर्फ़ घर-गृहस्थ औरतों (House wives) की वजह से ही आबाद हैं। मर्दों के साथ कमानेवाली औरतें कहीं भी घर की व्यवस्था नहीं चला रही हैं और न ही चला सकती हैं। उनके विवाह आज तलाक़ों पर ख़त्म हो रहे हैं। उनके बच्चे तबाह हो रहे हैं। उनके लिए ठिकाना अगर है तो कलबों में है या होटलों में। घर उनके लिए सुकून की जन्नत नहीं रहे और अपनी जगह लेने के लिए बेहतर इनसान तैयार करने का काम उन्होंने छोड़ दिया है। इस 'तरक़्क़ी' पर कोई रीझता है तो रीझे !